प्रतिमान

समय

समाज

संस्कृति

जुलाई-दिसंबर, 2020
वर्ष 8, अंक 16

जुलाई-दिसंबर, 2020 (वर्ष 8, अंक 16)
समाज-विज्ञान और मानविकी की पूर्व-समीक्षित अर्धवार्षिक पत्रिका

भारतीय भाषा कार्यक्रम
CSDS विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस)
29, राजपुर रोड, दिल्ली-110054 फ़ोन : 91.11. 23942199
ईमेल : pratiman@csds.in; वेबसाइट : www.csds.in/pratiman
+

21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 फ़ोन : 91.11.23273167, 23275710
ईमेल : vaniprakashan@gmail.com; वेबसाइट : www.vaniprakashan.com

सेंटर फ़ॉर द स्टडी ऑफ़ डिवेलपिंग सोसाइटीज़, 29, राजपुर रोड, दिल्ली-110054 के निदेशक संजय कुमार के लिए प्रकाशक एवं मुद्रक अमिता माहेश्वरी, वाणी प्रकाशन, 21-ए, 4695, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 द्वारा प्रकाशित और ऑप्शन प्रिंटोफ़ास्ट, 41, पटपड़गंज इंडस्ट्रियल एरिया, दिल्ली-110092 में मुद्रित।
संपादक : अभय कुमार दुबे

मूल्य : व्यक्तिगत : ₹ 350, संस्थागत : ₹ 500
विदेशों के लिए : $ 20 + डाक ख़र्च अतिरिक्त या किसी अन्य मुद्रा की समकक्ष राशि
ISSN: 2320-8201

अनुक्रम

दस्तावेज़

स्मृति-शेष

समीक्षा

समय समाज संस्कृति

राजनीतिक विश्लेषण की श्रेणियाँ : भारतीय समाज-विज्ञान के सामने नई चुनौतियाँ

भारतीय लोकतंत्र के कामकाज और सरकार द्वारा उसे निर्देशित करने की शैली में पिछले सात साल के दौरान हुए परिवर्तनों ने समाज-वैज्ञानिकों के सामने कुछ नई समस्याएँ पेश की हैं। मोटे तौर पर इनका ताल्लुक़ राजनीतिक विश्लेषण की श्रेणियों से है। मसलन, हम मान कर चलते हैं कि भारत एक आधुनिक राष्ट्र-राज्य है। भले ही इसके कुछ आयाम युरोपीय मॉडल के मुताबिक़ न हों, फिर भी राष्ट्र-राज्य को हमने ऐसी सुनिश्चित श्रेणी के रूप में स्वीकार कर लिया है जिसमें पिछले सत्तर साल के बहस-मुबाहिसे के बावजूद कोई ख़ास विचलन नहीं हुआ है। हमारी यह भी मान्यता है कि भारतीय समाज की ख़ास विशेषताओं के कारण हमारे यहाँ 'अन्य पिछड़े वर्ग' की एक अदद ओबीसी राजनीति विकसित हो गई है। अनुसूचित जातियों (दलितों) और अनुसूचित जनजातियों (आदिवासियों) की राजनीति तो उसके भी पहले से मौजूद है। राजनीति की इन तीनों क़िस्मों को मिला कर हमने सामाजिक न्याय की एक विश्लेषणात्मक श्रेणी बना डाली है। सामाजिक न्याय के प्रबल आग्रह के प्रतिक्रियास्वरूप 'सवर्ण' राजनीति नामक एक और श्रेणी उभर आई है। इसकी विचित्रता यह है कि वर्णाश्रम धर्म के तहत ओबीसी के पास भी एक वर्ण है, और इस लिहाज़ से 'स-वर्ण' होने के नाते उन्हें दलित और आदिवासियों के साथ जोड़ कर नहीं देखा जाना चाहिए। फिर भी हमारे विमर्श में 'सवर्ण बनाम सामाजिक न्याय' का द्विभाजन एक तरह की न समझ में आने वाली ज़िद की तरह मौजूद रहता है। विश्लेषण करते हुए हम बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक नाम की दो और श्रेणियों का अक्सर इस्तेमाल करते हैं, कुछ इस तर्ज़ पर कि जो समुदाय एक जगह बहुसंख्यक या अल्पसंख्यक है, वह हर जगह और हर परिस्थिति में वैसा ही रहने वाला है।

2014 में हुए सत्ता-परिवर्तन और 2019 में उसे मिली निरंतरता ने हिंदुत्ववादी विमर्श के लिए ज़मीन साफ़ करने की परिस्थितियाँ तैयार की हैं। परिणामस्वरूप विश्लेषण की ये सभी प्रचलित श्रेणियाँ दबाव में आ गई हैं। 2018 में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सर संघचालक मोहन भागवत ने नई दिल्ली के विज्ञान भवन में बोलते हुए भारत को युरोपीय तर्ज़ का राष्ट्र-राज्य मानने से इनकार कर दिया, 'हमारा राष्ट्र बहुत

प्राचीन है। राष्ट्र की कल्पना अगर पश्चिम की व्याख्या से करेंगे तो जहाँ स्टेट है वहाँ नेशन होगा। स्टेट गया कि नेशन गया। लेकिन हमारा यह कन्सेप्ट कभी नहीं रहा। स्टेट बदलते रहे। हमारा सांस्कृतिक राष्ट्र है।' संघ यह बात पहले भी कहता रहा है, लेकिन इस सूत्रीकरण की व्यावहारिक निष्पत्तियाँ हमारे राजनीतिशास्त्रियों को अब समझ में आई हैं। हाल ही में हिलाल अहमद ने भागवत की बातों को गहराई से पढ़ते हुए उनके इस कथन का एक बेहद अहम फलितार्थ खोज निकाला। हिलाल अहमद के अनुसार इस सूत्रीकरण का उपयोग हिंदुत्ववादी शक्तियाँ भारत के बाहर, ख़ासकर पाकिस्तान में, रहने वाले हिंदुओं को सांस्कृतिक आधार पर हिंदू राष्ट्र का अभिन्न अंग बताने के लिए कर रही हैं। नागरिकता संशोधन अधिनियम (सीएए) के इर्द-गिर्द होने वाली राजनीति का उद्गम इसी विचार में निहित है।

ऐसी बात नहीं कि भारत को युरोपीय अर्थों में राष्ट्र-राज्य मानने को पहले आलोचनात्मक दृष्टि से न देखा गया हो। सुदीप्त कविराज ने 2014 के सत्ता-परिवर्तन के कुछ दिन बाद लिखे अपने निबंध 'डेमॉक्रैसी ऐंड द नॉन-नेशन-स्टेट' में दलील दी थी कि राष्ट्र-राज्य की श्रेणी केवल युरोप के देशों के लिए ही उपयुक्त बैठती है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से अन्य देशों के लिए यह श्रेणी भ्रामक है। इसी निबंध में कविराज लोकतंत्र संबंधी इस थियरी और उससे जुड़े लोकप्रिय शब्दाडंबर की चर्चा भी करते हैं जिसके मुताबिक़ 'लोग' ख़ुद को एक संविधान देते हैं। इस प्रकार मूलत: 'लोगों' की मौजूदगी संविधान से पहले होती है। इसका मतलब यह निकाला जा सकता है कि एक राष्ट्र के रूप में संविधान उन्हें नहीं बनाता, बल्कि वे संविधान को बनाते हैं। इस प्रकार संविधानसम्मत राज्य बनने से पहले 'लोगों' के रूप में राष्ट्र मौजूद रहता है।

भारतीय लोकतंत्र की बदली जा रही बनावट ने राष्ट्र-राज्य की भाँति सामाजिक न्याय की श्रेणी को भी समस्याग्रस्त कर दिया है। हिंदुत्ववादी राजनीति सफल हो ही नहीं सकती थी, अगर भारतीय जनता पार्टी के प्रभाव-क्षेत्र (उत्तर भारत, पश्चिमी भारत और मध्य भारत) में सामाजिक न्याय की राजनीति 'अस्मिता' की दावेदारियों में फँस कर 'न्याय' के पहलू से वंचित न हो जाती। अमेरिकी राजनीतिशास्त्री मार्क लिला के हवाले से सुदीप्त कविराज ने हमारा ध्यान इससे संबंधित समस्याओं की तरफ़ खींचा है। मार्क लिला ने अमेरिकी उदारपंथ की आलोचना करते हुए लिखा है कि संयुक्त राज्य में लिबरलों द्वारा अस्मिता की राजनीति के बारे में दुहैरे मानदंड अपनाए गए। उन्होंने श्वेत अमेरिकनों द्वारा की जाने वाली अस्मिता की दावेदारी की कड़ी आलोचना की, और सामाजिक न्याय के नाम पर अश्वेत समुदायों द्वारा की जाने वाली अस्मिता की राजनीति को प्रोत्साहित किया। परिणामस्वरूप श्वेत समुदायों को संदेश गया कि अश्वेत तो अपनी पहचान पर गर्व कर सकते हैं, लेकिन श्वेतों के लिए उनकी पहचान शर्मिंदगी का कारण समझी जा रही है। इस राजनीति के प्रतिक्रियास्वरूप श्वेतों के बीच उनका अस्मिता-बोध बहुत प्रबल हो गया। कविराज ने इस उदाहरण को भारतीय परिस्थिति पर प्रोजेक्ट करते हुए विश्लेषण किया है कि ओबीसी आरक्षण घोषित होने के बाद ऊँची जातियों के अलावा सभी समुदायों के बीच पिछड़ेपन की प्रतियोगिता शुरू हो गई, और दूसरी तरफ़ कमज़ोर जातियों के कुछ नेताओं ने यह हानिकारक तर्क देना शुरू कर दिया कि वे तो भारतीय आबादी के 'बहुजन' हिस्से की नुमाइंदगी करते हैं, इसलिए राज्य को उनकी माँगें माननी ही चाहिए। इस तर्क के कारण ज़ोर 'न्याय' के बजाय एक ख़ास तरह की बहुजन अस्मिता पर हो गया। यह भी एक तरह का बहुसंख्यकवाद ही था। कविराज के शब्दों

में, 'अगर बहुसंख्या होने के दम पर ही राज्य की प्रकृति तय होगी, तो अगर वह बहुसंख्या कमज़ोर जातियों की हो सकती है तो हिंदुओं की भी हो सकती है। भारतीय समाज का ढाँचा ऐसा है कि एकमुश्त मतदान करने वाली हिंदू बहुसंख्या को चुनाव में नहीं हराया जा सकता। कमज़ोर जातियों के राजनेताओं द्वारा अक्सर दिए जाने वाले इस तर्क ने अनभिप्रेत रूप से भाजपा की राजनीति के लिए रास्ता साफ़ कर दिया।' सामाजिक न्याय के सवाल पर भारतीय उदारपंथियों का आचरण क़रीब-क़रीब मार्क लिला द्वारा बताए गए अमेरिकी उदारपंथियों जैसा ही रहा है। उसके नतीजे भी लगभग अमेरिका जैसे ही निकले हैं।

सवर्ण/अवर्ण के द्विभाजन को भी पिछले सात साल की राजनीति ने महज़ सेमिनारीय निर्मिति में समेट दिया है। ब्राह्मण-बनिया पार्टी कही जाने वाली भाजपा ने पिछले कुछ वर्षों में अपना ज़बरदस्त ओबीसीकरण किया है (बंगाल के चुनाव में भाजपा का उभार मुख्य रूप से वहाँ पिछड़ों और अनुसूचित जातियों की गोलबंदी पर आधारित है)। क्रिस्तोफ़ जैफ्रलो का अवलोकन है कि सरकारी पार्टी का यह पिछड़ाकरण किसी ब्राह्मणवाद विरोधी राजनीति को मज़बूत नहीं करता। इसके उलट ब्राह्मणों और अन्य ऊँची जातियों के प्रतिनिधियों की विधायिकाओं में संख्या बढ़ गई है। मंडल राजनीति के पहले दौर में पिछड़े वर्ग से आने वाले चेहरे विधायिकाओं में बढ़े थे, लेकिन हिंदुत्व की राजनीति ने इस प्रक्रिया को पलट दिया है। भाजपा अपने साथ जुड़े पिछड़े समुदायों और उनके नेताओं को ऊँची जातियों का विरोध करने की विचारधारात्मक सुविधा मुहैया नहीं कराती।

अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक का द्विभाजन भी अब पहले की तरह प्रभावी नहीं रहा। भाजपा की पूरी कोशिश होती है कि अधिसंख्य सुन्नी मुसलमानों को छोड़ कर बाक़ी सभी अल्पसंख्यक समुदायों (शियाओं और बरेलवियों समेत) का व्यापक हिंदू दायरे में विनियोग कर लिया जाए। उसकी इस कोशिश में अड़चनें पैदा होती रहती हैं। जैसे, किसान आंदोलन की वजह से सिख समुदाय के साथ उसके संबंध इस समय साँसत में पड़ गए हैं, लेकिन हमें नहीं भूलना चाहिए कि सिखों की नुमाइंदगी करने वाले अकाली दल ने अयोध्या में 'कारसेवा' के लिए सिखों का जत्था भेजा था। ईसाई धार्मिक प्रतिष्ठान द्वारा चलाई जाने वाली धर्मांतरण की गतिविधियों को शत्रुभाव से देखने के बावजूद ईसाई बहुसंख्या वाले उत्तर-पूर्वी भारत के प्रांतों में या गोवा जैसे प्रदेश में भाजपा बिना किसी दिक़्क़त के गौरक्षा के मुद्दे को ठंडे बस्ते में डाल देती है। चूँकि देश के छह राज्यों और दो केंद्र शासित प्रदेशों (पंजाब, मिज़ोरम, अरुणाचल प्रदेश, नगालैंड, मेघालय, मणिपुर, कश्मीर और लक्षद्वीप) में हिंदू आबादी अल्पसंख्यक है, इसलिए हिंदुओं को धार्मिक अल्पसंख्यकों के अधिकार दिलाने के लिए क़ानूनी कोशिशें शुरू कर दी गई हैं। ज़ाहिर है कि यह प्रक्रिया अभी और आगे चलेगी। नई सूरत में राजनीतिशास्त्रियों को देखना पड़ेगा कि मुख्य तौर पर अल्पसंख्यक स्थिति में रहने वाले धार्मिक समुदाय जब किसी एक या दो इलाक़ों में बहुसंख्यक होते हैं तो उनके राजनीतिक व्यवहार में अल्पसंख्यक अधिकारों के प्रति कितनी गुंजाइश रहती है?

इन सभी बिंदुओं पर विस्तार से सैद्धांतिक और विमर्शी विचार की ज़रूरत है। राजनीतिक-सामाजिक ज़मीन के बदलने के साथ समाज-विज्ञान की बद्धमूल धारणाओं और विचार-श्रेणियों में भी परिवर्तन होने चाहिए। भारतीय समाज-विज्ञान को एक नए संस्कार की आवश्यकता है।

नये और मौलिक अनुसंधान को उजागर करने की दिशा में हम एक बार फिर कई शोधपरक लेख पेश कर रहे हैं। हिंदी पत्रकारिता में कार्टूनों की आरंभिक उपस्थिति के परतदार इतिहास पर नज़र डाल रहे हैं प्रभात कुमार, यह बताते हुए कि इस विधा के प्रति शुरुआती उत्साह जहाँ एक ओर हिंदी जनपद के रीते बर्तन को व्यंग्य-चित्रात्मक सामग्री से भरने की व्यापक मंशा से प्रेरित था, वहीं जब कार्टूनों का रुख़ ख़ुद संपादकों की ओर मुड़ता है तो यह आरंभिक उत्साह ठंढा पड़ने लगा था। ये अलग बात है कि कार्टूनों ने इस ऊहापोह और तजुर्बेकारी की अवधि के बाद विस्तार पाते हिंदी जनपद में स्थायी जगह ज़रूर बना ली, वक़्त के साथ उनका रेखांकन भी निखार पाता गया, भले ही विवाद और क़ानूनी और सामुदायिक प्रतिबंध दोनों के निशाने पर वे जब-तब आते ही रहे हैं। कोविड-जन्य महामारी ने मानव-स्वास्थ्य की अनिश्चितताओं के संदर्भ में विविध चिकित्सा-परिपाटियों की सापेक्षिक कारगरता और वैज्ञानिकता के दावे को सार्वजनिक बहस के केंद्र में ला खड़ा किया है। ऐसे में आयुर्वेद की आधुनिक, औपनिवेशिक और राष्ट्रवादी निर्मिति पर विभिन्न धार्मिक व राजनीतिक परिभाषाओं व आंदोलनों के असरात का जायज़ा लेता सौरव कुमार राय का लेख निहायत सामयिक बन पड़ा है। कोरोना की गाज इस बार काँवड़ियों की जलाभिषेक यात्रा पर भी पड़ी है : आइए नरेश गोस्वामी के साथ उस वैचारिक तफ़्तीश में शामिल हों, जो बताती है कि वक़्त के साथ-साथ न सिर्फ़ उत्तर भारत की सदियों से प्रचलित इस औत्सविक सावनी यात्रा के रूपाकार और साधन बदलते रहे हैं, बल्कि आम तौर पर तीर्थ-स्थानों के माहात्म्य का अगम-अबूझ सातत्य और सांख्यिक विस्तार लगभग शास्त्र-सम्मति की सनातन ऐतिहासिक पुनर्रचना से आशीर्वचन पाता रहा है। नवनीत शर्मा और नीरज कुमार मनी ने हमारी विषम शिक्षा-प्रणाली के सामने प्रौद्योगिकी और भाषा की चुनौतियों को लेकर कुछ लाज़िमी सवाल पूछे हैं, तो ज्योति मिश्रा और विभा अत्री ने लोकनीति के आँकड़ों के आधार पर यह समझाया है कि पिछले आम चुनावों में भाजपा और उनके सहयोगी दलों की सामाजिक व धार्मिक नीतियों ने पुरुष और महिला दलितों को उनकी ओर क्यों आकर्षित किया। अहमदाबाद के दंगों के गहन अध्ययन को आधार बनाकर राजनीतिक परिदृश्य में सांप्रदायिक हिंसा के स्वरूप में एक और रणनीतिगत बदलाव को रेखांकित कर रही हैं नेहा अग्रवाल, कि दंगे अब छोटे ज़्यादा कराए जाते हैं, लेकिन ध्रुवीकरण पैदा करने में इनकी कार्यक्षमता कहीं से कम नहीं होती।

सामयिकी में अभय कुमार दुबे ने अख़बारी रपटों और फ़ील्डवर्क से जुटाए साक्ष्यों के आधार पर असमाप्त किसान आंदोलन से उभरी राजनीतिक सैद्धांतिकी और भारतीय राजनीति के मौजूदा संकट की पड़ताल की है। दूसरी सामयिकी में कमल नयन चौबे ने राजनीतिक स्तर पर दलित-मुस्लिम सहयोग की संभावनाओं व चुनौतियों की रूपरेखा प्रस्तुत की है। रवींद्र कुमार पाठक का विशेष लेख प्रदत्त भाषा और स्त्रीत्व के परस्पर संबंध और दोनों के बीच फैले भाषिक कुहासे को विवेक की रोशनी से छाँटने की कोशिश करता है और यह सुदीर्घ विमर्श अगले अंक में भी जारी रहेगा। अशोक वोहरा ने राधाकृष्ण की दार्शनिकता पर उनके जीवनकाल में उठाए गए संदेह की तार्किक खोजबीन की है। दस्तावेज़ में हम मोहम्मद नौशाद की मदद से मौलाना आज़ाद के एक मशहूर तहरीरी बयान या क़ानूनी दलील से रूबरू होंगे जो देश-/राज-द्रोह के इर्द-गिर्द चल रही बहसों को एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य देता है।

बैदिक भट्टाचार्य ने अंग्रेज़ी में अपने सद्य:प्रकाशित समीक्षालेख में जावेद मजीद द्वारा किए गए *लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया* के आकलन की विस्तृत पड़ताल की है, और बारीक कताई करते हुए पाया है कि मजीद ने ग्रियर्सन को औपनिवेशिक सत्ता-निरपेक्ष क़रार देने में थोड़ी जल्दबाज़ी दिखाई है। पुस्तक-समीक्षाओं में इस बार हमने विश्वनाथ मिश्र लिखित *पश्चिमी ज्ञानोदय के वैचारिक संकट*, शेखर पाठक की बहुचर्चित किताब *हरी-भरी उम्मीद* की दो समीक्षाएँ, मिथिलेश कुमार झा की मैथिली आंदोलन पर प्रकाशित अंग्रेज़ी किताब के अलावा श्यामलाल यादव की आरटीआई पर आई किताब की समीक्षाएँ दी हैं।

कोराना को महामारी मानने के बावजूद हमारी व्यवस्था भारत में हुई मौत के सही आँकड़े जुटा पाने में अपनी असमर्थता जता रही है, लेकिन जैसा कि सांसद मनोज झा ने बाद में वायरल हो चुके अपने वीडियो में राज्य सभा में और अमृता दत्ता ने *इंडियन एक्सप्रेस* (28 जुलाई, 2021) में कहा : हमारी पीड़ा इतनी अभूतपूर्व तौर पर गहरी और हमारी क्षति इतनी व्यापक है कि हमें श्रद्धांजलि नामक विधा की ही पुनर्रचना करनी होगी। शोकसंतप्त महासागर में डूबे हम इस बार सिर्फ़ तीन महाप्रणेताओं — इब्राहिम अलकाज़ी, मुकुंद लाठ और शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी — के महाप्रयाण को दर्ज कर पा रहे हैं, लेकिन हम-आप जानते हैं कि पत्रिकाओं के श्रद्धांजलि-विशेषांक निकल रहे हैं और कोई चाहे तो उसी अनुपात में कुल मानवीय हानि का अंदाज़ा लगा ले! स्मरण का सिलसिला हमारी किताबों और प्रतिमान ब्लॉग पर चलता रहेगा, क्यूँकि वही हमारा संबल है और जीवन-मृत्यु के आर-पार परंपरा-निर्माण में तुच्छ दाय भी।